

वनों की आग में जंगल का कानून

अनिल प्रकाश जोशी

इस महीने की शुरुआत में इंद्रदेव ने पहाड़ों व जंगलों को बचा लिया। उत्तराखंड के जंगलों में जिस तेजी से आग फैली थी, उसके आगे सरकारी तंत्र बेबस ही दिखाई दिया था। एक समय तो लगने लगा था कि इस आग को रोकना असंभव-सा हो गया है। लेकिन धूप निकली और गर्मी बढ़ने लगी, तो आग फिर लौट आई। अब एक तरफ उत्तर काशी के वरुणावत से आग की खबर आ रही है, तो दूसरी तरफ अल्मोड़ा के बिनसर अभयारण्य में आग लगने की बात कही जा रही है। हर बार, जब जंगलों में आग लगती है और सरकारी तंत्र उसे रोकने में नाकाम हो जाता है, तो कहा जाता है कि ऐसी आग को रोकने का काम सबसे अच्छी तरह से स्थानीय समुदाय ही कर सकता है। लेकिन सच यही है कि वनों को बचाने में स्थानीय लोगों की दिलचस्पी अब खत्म हो चुकी है। जंगल जिनके जीवन का मुख्य आधार थे और जिनकी सुबह-शाम जंगल से जुड़ी थीं, अब वही जंगल उनके लिए पराए हो चुके हैं। उत्तराखंड ही नहीं, पूरे देश के वन क्षेत्र का परिदृश्य साल 1980 के वन अधिनियम व 1988 की वन नीति के बाद पूरी तरह से बदल गया है।

इन कानूनों के आने के बाद से वनों का प्रबंधन और उनका दोहन पूरी तरह से वन विभाग की जिम्मेदारी बन गया। जंगलों से घास काटने के अलावा जलावन के लिए लकड़ी बीनने जैसे अधिकार भी स्थानीय समुदायों से छीन लिए गए हैं। जब तक उनके पास ये अधिकार थे, उन्हें ये जंगल अपने अस्तित्व की जरूरी शर्त लगते थे। जब भी जंगल पर कोई संकट आता, तो वे उसे बचाने के लिए दौड़ पड़ते थे। कहीं आग लगती थी, तो स्थानीय समुदाय बड़ी संख्या में आग बुझाने निकल पड़ता था। बेशक उनके पास आग बुझाने की बड़ी तकनीक नहीं होती थी, लेकिन परंपरागत तरीकों से ही वे आग को बढ़ने से रोक देते थे। उन्हें पता था कि जंगल नहीं रहे, तो उनका जीवन भी वैसा नहीं रहेगा। वन नीति और वन अधिनियम ने जंगल से स्थानीय गांव वालों के इस रिश्ते को बदल दिया है। अब जब जंगल में आग लगती है, तो कोई उसे बुझाने के लिए आगे नहीं बढ़ता, जिनके हवाले जंगलों का प्रबंधन है, बस उन्हीं का इंतजार किया जाता है। उत्तराखंड के कुल 51,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल का 34,000 वर्ग किलोमीटर इलाका वन क्षेत्र है। इसमें से 30,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र सीधे वन विभाग के नियंत्रण में है और बाकी वन पंचायतों के मातहत हैं। उनमें भी स्थानीय समुदायों के अधिकार बहुत सीमित हैं।

दिलचस्प बात यह है कि देश के वन कानून व नीति वगैरह जंगलों को बचाने की उसी चेतना के परिणाम थे, जो इन स्थानीय लोगों की मुहिम से शुरू हुई थी। चिपको आंदोलन जैसे अभियानों से पूरी दुनिया में यह धारणा बनी थी कि वन व वन्य जीवन को व्यापारिक दोहन से बचाना अब जरूरी हो गया है। यह बात अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी लगातार उठ रही थी। इन तमाम चर्चाओं के बीच सरकार को एक ही विकल्प दिखाई दिया कि वनों को एक कानून के भीतर लाकर ही बचाया जा सकता है। वन अधिनियम और वन नीति इसी का परिणाम थे। इस कानून ने 1,000 मीटर से ऊपर के सभी तरह के वनों के दोहन पर पूरी रोक

लगा दी। कानून द्वारा यह भी तय कर दिया गया कि हर राज्य में एक निश्चित प्रतिशत वन भूमि पर कोई छेड़छाड़ नहीं होगी। मैदानी इलाकों के लिए यह सीमा 33 प्रतिशत रखी गई, तो पहाड़ों में 67 प्रतिशत। यह बात दूसरी है कि इस अधिनियम का पालन कभी नहीं हुआ। देश का कोई भी मैदानी राज्य 33 फीसदी वनों के आच्छादन का लक्ष्य पूरा नहीं करता। लेकिन जहां तक वनों पर गांववासियों के अधिकार का मामला है, तो इस मामले में सख्ती के जो प्रावधान थे, वह पूरी तरह लागू करने की कोशिश की गई। इसी दौर में जंगली जानवरों की सुरक्षा का सवाल भी खड़ा हुआ और साथ में कई प्रजातियों के लुप्त होने के कगार पर पहुंचने का मुद्दा भी आया और फिर सिलसिला शुरू हुआ बायो स्फेयर, सेंक्चुरी आदि के जरिये वन जीवन के संरक्षण का। जल्द ही ऐसी सेंक्चुरियों की बाढ़-सी आ गई। जंगलों के स्थानीय समीकरणों को न समझने वाले विशेषज्ञों की राय थी कि इन्हीं तरीकों से देश के वन बच सकेंगे।

वैसे वनों पर स्थानीय समुदायों के अधिकार की बहस काफी चली है। साल 2006 में इन बातों पर नजर डालने के लिए केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय वन आयोग भी गठित किया था। पूर्व न्यायाधीश बी.एम. कृपाल की अध्यक्षता वाले आयोग ने इस मामले पर नए सिरे से काफी मंथन किया था। पर उस आयोग के निर्णयों व सुझावों का क्या हुआ, कुछ भी पता नहीं, उसकी कहीं चर्चा भी नहीं होती।

वनों से साथ एक दिक्कत यह है कि वे समवर्ती सूची में आते हैं। यानी उनकी जिम्मेदारी केंद्र सरकार की भी है और राज्य सरकारों की भी। लेकिन आज तक कई राज्यों ने अपना राज्य वन आयोग तक नहीं बनाया। इसलिए स्थानीय जरूरतों और सुझावों पर चर्चा की गुंजाइश ही नहीं बनती। उत्तराखंड राज्य को बने कई वर्ष हो गए, इस बीच यहां के जंगलों में कई बार आग लगी, लेकिन आज तक यहां के वन विभाग के पास कोई फायर मैनुअल नहीं है। जब यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश का हिस्सा था, तब यहां के वन अधिकारी वी.पी. मलेठा के बनाए फायर मैनुअल का सख्ती से पालन किया जाता था। सच तो यह है कि देश का कोई भी राज्य वनों के प्रति गंभीर नहीं है और सब कुछ वन विभाग की चुस्ती-सुस्ती पर ही निर्भर रहता है।

अब जब देश के वन बिगड़ और उजड़ रहे हैं, तो वन कानूनों पर उंगलियां उठना स्वाभाविक ही है। उत्तराखंड के जंगलों में बार-बार सुलगती आग ने बहुत सारे सवाल खड़े किए हैं। उसमें एक यह भी है कि वन विभाग व वन रक्षक ऐसे चुनौतीपूर्ण समय में अपनी भूमिकाओं में क्यों खरे नहीं उतर पा रहे हैं? उनकी ऐसी कौन-सी सीमाएं हैं, जो उन्हें प्रभावी बनने से रोकती हैं? आग बुझाने के साथ ही जैसे सारी चर्चा शांत हुई है, तो यह सवाल भी खड़ा हो गया है कि क्या सब कुछ ऐसा ही चलता रहेगा?